International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 20-04-2021, Accepted: 08-05-2021, Published: 25-05-2021
Volume 7, Issue 3, 2021, Page No. 56-61

प्रसाद की आलोचना-दृष्टि: कला, रहस्य और यथार्थ

डॉ. रोहित कुमार

सहायक प्रोफेसर, हिंदी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, हे.न.ब. गढ़वाल विश्वविद्यालय (केंद्रीय विश्वविद्यालय), श्रीनगर, उत्तराखंड, भारत

सारांश

साहित्यालोचन के क्षेत्र में न केवल आलोचकों, दार्शनिकों ने कार्य किया है अपितु कई साहित्यकारों ने भी महत्वपूर्ण विचार देकर आलोचना के क्षेत्र को समृद्ध किया है | आधुनिक काल में स्वर्ण-युग कहे जाने वाले छायावाद के नामकरण में ही एक व्यंग्य छुपा हुआ है| शायद यही कारण है कि समर्थक आलोचकों के साथ-साथ प्रमुख साहित्यकारों ने भी अपना पक्ष प्रस्तुत किया है| यहाँ प्रसाद के कलात्मक सौन्दर्य-बोध, रहस्यवाद और यथार्थवाद से छायावाद को जन्म देने संबंधी विचारों को सरल भाषा में समझने का प्रयास किया गया है|

मूल शब्द: जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला, सौन्दर्य-बोध, रहस्यवाद, यथार्थवाद, छायावाद

प्रस्तावना

अपने समय में रहते हुए भी, प्रत्येक मानव, समाज और राष्ट्र अपनी अस्मिता की प्रवाह-धारा को जानने-समझने के लिए संस्कृति और इतिहास पर सदैव पुनर्विचार करता रहा है | वास्तव में, आत्मा या चिति की खोज संस्कृति और सभ्यता के भीतर गहराइयों में स्वयं के गठन की खोज है| इस खोज के भिन्न-भिन्न रास्तों पर न केवल दार्शनिक गए हैं अपितु उन साहित्यकारों ने भी अपने समय की समस्याओं को उन मार्गों के ज्ञान-प्रकाश से अवलोकित कर एक सांस्कृतिक-साहित्यिक चिंतन को अस्तित्व प्रदान किया है जिसने व्यष्टि और समष्टि के एकात्म में कला-चिंतन को विकसित किया है | इसी साहित्यिक-धारा में छायावाद के चार स्तंभों में से एक जयशंकर प्रसाद अपनी एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं | उनके लेखन में दर्शन और साहित्य एकमेक हो जाते हैं | आलोचक नन्ददुलारे बाजपेयी के शब्दों में, उनका सम्पूर्ण साहित्य "इतिहास के अस्थिपंजर को कार्य-कारण-युक्त दार्शनिक सजीवता प्रदान"[1] करता है, जिससे उनका अध्ययन करने में एक अनोखा आनंद प्राप्त होता है | उनके लेखन में दार्शनिक चिंतन, इतिहास, राष्ट्र और मानव-जीवन के पक्ष एक दूसरे में वर्णित होते हैं | जयशंकर प्रसाद का आलोचनात्मक कर्म विरोधी-युग्मों के संघर्ष से उत्पन्न होता है| यहाँ पश्चिम और भारत का चिंतन आमने-सामने है |

पश्चिम से संवाद करते हुए वे परम्परा की युगोचित पुनर्व्याख्या करते हैं | उनके लेखन में पश्चिमी चिंतन की समस्याओं के सामने भारतीय चिंतन हल के रूप में आमने आता है | डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी लिखते हैं- "उनकी विश्व दृष्टि और आलोचना दृष्टि परंपरा से जुड़ी है परन्तु वह

दृष्टि परंपरा के युगोचित पुनराख्यान से रंजित है"[2] |

भारतीय और पश्चिमी काव्यात्मक सौन्दर्यबोध

जयशंकर प्रसाद ने अपने विचारों में काव्य की सत्ता को कला से श्रेष्ठ माना है| वे न तो पश्चिम के अनुसार काव्य को कला का अंग मानने के पक्ष में खड़े होते हैं और न ही काव्य को कला के समकक्ष रखना चाहते हैं | वे मानते हैं कि कला मात्र अभिव्यक्ति है जबकि काव्य में अभिव्यक्ति और भावना का सुन्दर सामंजस्य होता है| आलोचना में पश्चिमी विचारों को स्वीकार किए जाने का विरोध करते हुए 'काव्य और कला' निबंध में प्रसाद स्पष्ट करते हैं- "काव्य की विवेचना में प्रथम विचारणीय विषय उसका वर्गीकरण हो गया है और उसके लिए संभवतः हेगेल के अनुकरण पर काव्य का वर्गीकरण कला के अंतर्गत किया जाने लगा है| यह वर्गीकरण परंपरागत विवेचनात्मक जर्मन दार्शनिक शैली का वह विकास है, जो पश्चिम में ग्रीस की विचारधारा और उसके अनुकूल सौन्दर्य-बोध के सतत अभ्यास से हुआ है"[3] | इसतरह प्रसाद पश्चिम में ग्रीस की विचारधारा और उसके अनुकूल सौन्दर्य-बोध के सतत विकास में हेगेल द्वारा काव्य को कला के एक वर्गीकरण के रूप में स्वीकार किए जाने में अपनी असहमति व्यक्त करते हैं| हेगेल मूर्त और अमूर्त के विभाजन द्वारा काव्य के ऊपर दर्शन को महत्त्व[4] देता है और एक स्पष्ट सोपानक्रम का निर्माण करता है| पश्चिम के कला चिंतन में अध्यात्म का कोई स्थान नहीं है बल्कि वहाँ "लोकोत्तर आनंद की सत्ता का विचार ही नहीं किया गया | उसे तो शुद्ध दर्शन के लिए सुरक्षित रखा गया"[5] | प्रसाद मूलतः कवि - कर्म को अध्यात्मिक कर्म मानते हैं |

प्रसाद जी भारतीय विचारधारा के समग्रता या एकीकरण के विचार-दृष्टि पर जोर देते हैं | वे स्पष्ट करते हैं कि प्राचीन काल से ही कवि और ऋषि शब्द के पर्यायवाची प्रयोग के माध्यम से कला और दर्शन में कोई मतभेद नहीं रहा क्योंकि यहाँ ब्रह्म का रूप भी मूर्त और अमूर्त दोनों है | इस दृष्टि से देखने से मूर्त और अमूर्त की सौन्दर्य-बोध संबंधी दो धारणाएं अधिक महत्व नहीं रखती | प्रसाद मूर्त और अमूर्त के विचारों के आधार पर पश्चिम और भारत में अंतर दिखाते हुए कहते हैं- "सौन्दर्य-बोध बिना रूप के हो ही नहीं सकता... इसलिए अमूर्त सौन्दर्य-बोध कहने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता | ग्रीक लोगों के सौन्दर्य-बोध में जो एक क्रम - विकास दिखलाई पड़ता है, उसका परिपाक संभवतः पश्चिम में इस विचार-प्रणाली पर हुआ है कि मानव - स्वभाव सौन्दर्यानुभूति के द्वारा क्रमविकास करता है और स्थूल से परिचित होते-होते सूक्ष्म की ओर जाता है... भारतीय उपनिषदों का प्राचीन ब्रह्मवाद इस मूर्त विश्व को ब्रह्म से अलग निकृष्ट स्थिति में नहीं मानता"[6] | भारतीय चिंतन और पाश्चात्य चिंतन का इस विषय में स्पष्ट मतभेद दिखाई देता है | दार्शनिकता पर जोर देने के कारण ही प्रसाद के कला चिंतन में आत्मा (आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति) केंद्र में है जबकि शुक्ल जी हृदय की मुक्ति पर जोर देते हैं |

भारतीय और पश्चिमी सौन्दर्य-बोध में वस्तु को देखने का अंतर है जिसके कारण सौन्दर्य-बोध की प्रक्रिया में अंतर आ जाता है | यह सर्वस्वीकृत है कि कला प्रतीकों की अपेक्षा रखती है | जिस प्रकार संगीत के लिए ध्वनि और चित्र के लिए रेखाएं अवश्यक हैं उसी तरह साहित्य के लिए शब्दावली आवश्यक हैं | समग्रता पर केन्द्रित भारतीय विचारधारा ज्ञानात्मक होने के कारण मूर्त्त और अमूर्त्त का भेद हटाते हुए एकीकरण करने का प्रयत्न करती है- "ग्रीस द्वारा प्रचलित पश्चिमी सौन्दर्यानुभूति बाह्य को, मूर्त को, विशेषता देकर उसकी सीमा में ही उसे पूर्ण बनाने

की चेष्टा करती है और भारतीय विचारधारा ज्ञानात्मक होने के कारण मूर्त और अमूर्त का भेद हटाते हुए बाह्य और आभ्यंतर का एकीकरण करने का प्रयत्न करती है"[7] |

प्रसाद पश्चिम में ज्ञानात्मक प्रतीकों के अमूर्त्त रूप को ही समस्या मानते हैं जिसका हल भारतीय चिंतन में मौजूद एकीकरण विचार द्वारा ही संभव है- "सौन्दर्य-बोध में पाश्चात्य विवेचकों के मतानुसार मूर्त्त और अमूर्त्त भेद संबंधी कल्पना विवेचन की रीढ़ बन गई है| जब यह अमूर्त्त के साथ सौन्दर्य-शास्त्र का संबंध ठहराती है, तो दुर्बलता में ग्रस्त होने के कारण अपने को स्पष्ट नहीं कर पाती | इसका कारण यही है कि वे सद्भावात्मक ज्ञानमय प्रतीकों को अमूर्त्त सौन्दर्य कह कर घोषित करते हैं, जो सौन्दर्य के द्वारा ही विवेचन किये जाने पर केवल प्रेय तक पहुँच पाते हैं"[8] |

सत्य के दो लक्षणों (श्रेय और प्रेय) की अभिव्यक्ति वाङ्मय में होने के कारण प्रसाद उन्हें दो रूपों में स्वीकार करते हैं- काव्य और शास्त्र | शास्त्र में श्रेय होता है तो काव्य में श्रेय और प्रेय दोनों का सामंजस्य होता है| प्रसाद ने भारतीय काव्य को 'आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति'[9] माना है जो एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है- "आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है"[10] | वे प्रेय को सांसारिक अनुभूतियों के लिए स्वीकार करते हैं जबकि कठोपनिषद में यम नचिकेता से कहते हैं- "श्रेय और प्रेय दोनों मनुष्य के सामने आते हैं | बुद्धिमान व्यक्ति भली-भांति परीक्षा करके उनमें विवेक करता है| बुद्धिमान प्रेय की अपेक्षा श्रेय का वरण करता है जबकि अज्ञानी मनुष्य योगक्षेम के लिए प्रेय को चुनता है"[11] (1.2.2)| श्रेय और प्रेय के इस विरोध पर डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं- "श्रेय आधुनिक शब्दावली में कल्याण या मंगल का और प्रेय प्रीति अथवा आनंद का पर्याय है |... इसप्रकार उन्होंने दोनों के विरोध का ही नहीं भेद का भी निषेध कर दिया है"[12] | श्रेय और प्रेय का विभाजन और फिर उसका एकीकरण साहित्य के समाहार गुणों को व्यक्त करता है | भारतीय साहित्य आनंद में लोक-कल्याण और लोक-कल्याण में आनंद का स्वर उसे व्यष्टि-समष्टि की सम्पूर्णता प्रदान करता है | यही मानव-कल्याण का भाव प्रसादजी के साहित्य का लक्ष्य है जो आनंद (शिव) में लक्ष्य की प्राप्ति करता है |

भारतीय या आयातित रहस्यवाद

बहुत समय तक यह माना जाता रहा कि रहस्यवाद भारत के लिए बाहर की वस्तु है, अभारतीय है | आलोचक रामचंद्र शुक्ल ने भी रहस्यवाद को विदेशी ही माना है और उसे सेमेटिक धर्म-भावना से जोड़ा है | शुक्लजी ने रहस्यवाद के भारतीय प्रारूप को पूरी तरह नकारा है- "विविध धर्मों का इतिहास लिखने वाले कुछ पाश्चात्य लेखकों ने उपनिषदों के ज्ञान को जो रहस्यवाद की कोटि में रखा है, वह उनका भ्रम या दृष्टि-संकोच है(146).... रामकृष्णोपासकों की भक्ति रहस्यवाद की कोटि में नहीं आ सकती(147)"[13] | डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी इसका कारण शुक्लजी के बुद्धिवाद में खोजते हैं- "वह 'प्रतिभान' जैसे किसी अबुद्धि गोचर वस्तु को काव्यालोचन में मानते ही नहीं- इसलिए वह भारतीय परंपरा में रहस्य की चर्चा तो करते हैं पर रहस्यवाद को आयातित मानते हैं"[14] | इसके विपरीत वैदिक काल से रहस्यवाद की अभिव्यक्ति की परम्परा को प्रसाद ने बहुत विस्तृत विवेचन द्वारा भारतीय घोषित किया है- "जहाँ बाह्य आडंबर के साथ उपासना थी, वहीँ भीतर सिद्धांत में अद्वैत -भावना रहस्यवाद की सूत्रधारिणी थी"[15]| प्रसाद ने हिंदी परंपरा में कबीर, तुलसी,

सूर, मीरा, देव, रसखान तथा घनानंद आदि के माध्यम से रहस्यवाद की दीर्घ परंपरा का संकेत किया है और वे स्पष्ट कर देते हैं कि जीवन में यथार्थ वस्तु आनंद है, ज्ञान से व अज्ञान से मनुष्य उसी की खोज में लगा है | भारत का चिंतन आनंदवाद है| वे स्पष्ट कहते हैं कि आनंदवादियों की साधना-प्रणाली कुछ-कुछ गुप्त और रहस्यात्मक होती थी | इसीकारण मधुरेश लिखते हैं- "प्रसाद जी रहस्यवाद का विवेचन भारतीय अद्वैतवाद की मानववादी धारा से जोड़कर करते हैं"[16] |

वेदना के संदर्भ में यथार्थवाद और छायावाद

सर्जक प्रसाद के विषय में प्रेमशंकर लिखते हैं और सही ही लिखते हैं कि प्रसाद में 'अंतर्द्वंद्व' है आधुनिकता का 'तनाव' नहीं | [17] यह 'द्वंद्व' बाहरी या आयातित नहीं है, अपितु यह भीतर की पुनर्व्याख्या से आता है | यथार्थ को वेदना से जोड़ कर देखना भी उनका यही क्रम दिखाई देता है| अपने 'यथार्थवाद और छायावाद' शीर्षक निबंध में वे लिखतें हैं- "यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात| उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक होती है" [18]| प्रसाद स्पष्ट करते हैं कि आधुनिक यथार्थवादी साहित्य में आभाव, पतन और वेदना का आधिक्य होता है | यह काल्पनिक नहीं है अपितु वे इसके लिए ऐतिहासिक परिस्थितियों में कारणों की तलाश करते हैं- "भारतीय नरेशों की उपस्थिति भारत को बचा नहीं सकी | फलतः उनकी वास्तविक सत्ता में अविश्वास होना सकारण था | धार्मिक प्रवचनों ने पतन में और विवेकदंभपूर्ण आडम्बरों ने अपराधों में कोई रुकावट नहीं डाली | तब राजसत्ता का कृत्रिम और धार्मिक महत्व व्यर्थ हो गया और साधारण मनुष्य जिसे पहले लोग अकिंचन समझते थे वही क्षुद्रता में महान दिखलाई पड़ने लगा | उस व्यापक दुःख संवलित मानवता को स्पर्श करने वाला साहित्य यथार्थवादी बन जाता है"[19] | अधिकांशतः वेदना की यह विवृत्ति तभी उत्पन्न होती है जब सामूहिक चेतना छिन्न-भिन्न हो जाती है | यथार्थ तथा आदर्श के संबंध में उनके विचार मौलिक हैं, फिर भी परंपरागत साहित्यिक मतों से भिन्न नज़र आते हैं|

यथार्थवाद का प्रचलित विचार शुष्क और बौद्धिक है इसमें कला का स्थान नहीं है | प्रसाद स्पष्ट कर देते हैं कि ऐसा यथार्थ साहित्यकार के किसी काम का नहीं- "यथार्थवाद सिद्धान्त से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं ठहरता, क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की संपत्ति है | यह चित्रित करता है कि समाज कैसा है, या था, किन्तु साहित्यकार न तो इतिहासकर्ता है और न धर्मशास्त्र-प्रणेता | इन दोनों के कर्त्तव्य स्वतंत्र हैं| साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है | साहित्य, समय की वास्तविक स्थिति क्या है इसको दिखाते हुए भी उसमें आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करता है" [20] | यही कारण है कि आदर्श और यथार्थ साहित्यकार की अनुभूति और अभिव्यक्ति में विशिष्ट प्रारूप को ग्रहण कर लेते हैं | इसी नई ग्रहणशीलता में बाह्य से हटकर जब साहित्यिक प्रवृत्ति 'आंतर' की ओर चली तो छायावाद का जन्म हुआ- "कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुंदरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिंदी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया"[21] |

प्रसाद एक ओर वेदना से यथार्थवाद और छायावाद को जोड़ते हैं वहीँ दूसरी ओर करूणा को वेदना की सहयोगिनी कह कर, वैदिक और बौद्ध करूणा का विस्तार करते हुए 'यथार्थ का भारतीय अतीत' प्रस्तुत कर देते हैं | इसकारण "इस यथार्थवाद में

वेदना तथा करूणा का रस है जो न इसे शुष्क होने देता है और न कठोर" [22] | अपितु यथार्थ उन्हें वह भावभूमि प्रदान करता है जिस पर चल कर काल्पनिक आदर्श भी वास्तविक विशेषताओं को धारण कर लेता है | भारतीय साहित्य के लक्ष्य की चर्चा करते हुए आलोचक प्रभाकर श्रोत्रिय प्रसाद जी के लिए लिखते हैं- "वे यथार्थ मार्ग से ही आदर्श तक पहुँचते हैं, किसी कपोल-कल्पना या स्वप्न के जरिये नहीं | चन्द्रगुप्त की विजय घर बैठे सपने बुनते हुए नहीं हुई थी और न ध्रुवस्वामिनी का मोक्ष और पुनर्विवाह हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने से हुआ था|... भारतीय साहित्य का लक्ष्य 'शिव की रक्षा' की बजाय 'शिवेतर की क्षति' रहा है | शिवेतर की क्षति से शिव की स्थापना यथार्थ से चलकर आदर्श की स्थापना है"[23] |

निष्कर्ष

इस तरह प्रसाद जी के आलोचना-कर्म का एक विस्तृत भाग भारतीय और पाश्चात्य सांस्कृतिक चिंतन का संवाद है | उनके लेखन में मानव और भारत की खोज केंद्रीय विषय बनी रही है | दार्शनिक प्रसाद इस खोज-प्रक्रिया में दर्शन को रचनात्मक संवेदन के प्रारूप में कलाकृति में परिवर्तित करते हैं क्योंकि उनके लिए काव्य ही अध्यात्म है | यही कारण है कि उनके रचनात्मक लेखन के सामने आलोचनात्मक कर्म दब-सा गया है | किन्तु धीरे-धीरे ही सही उनके चिंतन की प्रासंगिकता परिलक्षित हो रही है | उन्होंने शास्त्रीय और परंपरागत ज्ञान को बाहर लाकर अनुभव का विषय बनाया है इस कारण उनका सम्पूर्ण साहित्य इतिहास के भीतर मनुष्य के आतंरिक दस्तावेजों को खोजते - देखते चलता है |

सन्दर्भ सूची

1. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबंध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (द्वितीय संस्करण:2007) पृष्ठ- 9 (प्राक्कथन से)
2. डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, प्रसाद: दृष्टा एवं सृष्टा, नागरीप्रचारणी सभा, वाराणसी (प्रथम संस्करण: सं. 2054) पृष्ठ-6
3. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबंध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (द्वितीय संस्करण:2007) पृष्ठ- 19
4. "हेगेल के मतानुसार कला के ऊपर धर्मशास्त्र का और उससे ऊपर दर्शन का स्थान है| इस विचार-धारा का सिद्धांत है कि मानव सौन्दर्य-बोध के द्वारा ईश्वर की सत्ता का अनुभव करता है|"| - जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबंध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (द्वितीय संस्करण:2007) पृष्ठ- 23
5. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबंध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (द्वितीय संस्करण:2007) पृष्ठ- 23
6. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबंध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (द्वितीय संस्करण:2007) पृष्ठ- 24
7. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबंध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (द्वितीय संस्करण:2007) पृष्ठ-24
8. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबंध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (द्वितीय संस्करण:2007) पृष्ठ-24
9. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबंध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (द्वितीय संस्करण:2007) पृष्ठ-25
10. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबंध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (द्वितीय संस्करण:2007) पृष्ठ-25
11. मिथिलेश चतुर्वेदी, उपनिषद-नवनीत, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली (प्रथम संस्करण: 2018) पृष्ठ-28

12. प्रमिला शर्मा (सं.), प्रसाद संदर्भ, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली (प्रथम संस्करण: 1990) पृष्ठ-360
13. रामचंद्र शुक्ल, जायसी ग्रंथावली, वाणी प्रकाशन दिल्ली (संस्करण:2007) पृष्ठ-146,147
14. डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, प्रसाद: दृष्टा एवं सृष्टा, नागरीप्रचारणी सभा, वाराणसी (प्रथम संस्करण: सं. 2054) पृष्ठ-7
15. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबंध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (द्वितीय सं.:2007) पृष्ठ-41
16. मधुरेश, हिंदी आलोचना का विकास, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद (संस्करण:2017) पृष्ठ-131
17. प्रमिला शर्मा (सं.), प्रसाद संदर्भ, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली (प्रथम संस्करण: 1990) पृष्ठ-330
18. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबंध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (द्वितीय संस्करण:2007) पृष्ठ-75
19. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबंध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (द्वितीय संस्करण:2007) पृष्ठ-76
20. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबंध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (द्वितीय संस्करण:2007) पृष्ठ-77
21. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबंध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (द्वितीय संस्करण:2007) पृष्ठ-78
22. नरेन्द्र कोहली, हिंदी उपन्यास: सृजन और सिद्धांत, सौरभ प्रकाशन दिल्ली (प्रथम संस्करण:1977) पृष्ठ-61
23. प्रभाकर श्रोत्रिय, जयशंकर प्रसाद की प्रासंगिकता, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली (द्वितीय संस्करण:2004) पृष्ठ-102